International Research Journal of Human Resource and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor 5.414 Volume 6, Issue 3, March 2019
Website- www.aarf.asia, **Email** : editoraarf@gmail.com, editor@aarf.asia

सामाजिक परम्पराओं का पुनर्मूल्यांकन

डॉ. भवानीशंकर शर्मा 'महाजनीय'
विभागाध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय लोहिया पी.जी. महाविद्यालय, चूरू

'परम्परा' एक ऐसा शब्द है, जिसका प्रयोग प्रायः प्रत्येक सामाजिक के मुखारविन्द से होता ही रहता है. सामान्यतः यही सुना जाता है कि हमारी परम्परा अक्षुण्ण रहनी चाहिए. आप हम - सब दैनिक जीवन में यह देखते हैं कि आम सामाजिक इन परम्पराओं का दृढ़ अनुगामी होता है. वह परम्परा के साथ समझौता करने के लिए कभी तैयार नहीं होता है. यह वह सामाजिक होता है, जो बड़े-बड़े विद्वानों की बात भी, यदि वह परम्परा की विरोधिनी है, तो कतई नहीं सुनता.वह ऐसे लोगों का विरोध करना अधिक उचित समझता है और परम्परा के निर्वाह हेतु स्वयं को कटिबद्ध रखता है. यह आवश्यक भी है कि हमारी सुदीर्घ कालावधि में विकसित श्रेष्ठ परम्पराएँ सुरक्षित रहें. क्योंकि इन परम्पराओं में मानव का प्रकृति के साथ सहज जुड़ाव ही नहीं, प्रकृति की रक्षा के बहाने मानवता की सुरक्षा निहित है. सामान्य लोग जिस मुस्तैदी से इस कार्य को परिणामगामी बनाते हैं, वैसा विद्वान् नहीं कर सकता. अतः परम्पराओं के पक्षधरों का मैं प्रबल पक्ष लेता हूँ.

लेकिन सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि परम्परा किसे कहते हैं? प्रचलित परम्पराओं में कौन-कौन सी असामयिक हो गई हैं? कौन-कौन सी परम्पराएँ अनुचित हैं, जिनसे समाज कमजोर होता जा रहा है? कौन-कौन सी परम्पराएँ ऐसी हैं, जिनका निर्वाह सही ढंग से नहीं हो पा रहा है? अथवा क्या हम किसी नई परम्परा को जन्म दे सकते हैं, जो समाज व सामाजिकों के विकास हेतु बहुत आवश्यक है? आइये, यहाँ इन सब पर कुछ चिन्तन - मनन करते हैं; जिससे हम विकसित समाज की राह को पकड़ सकें और राष्ट्र के विकास में हम भी अपनी महती भूमिका निभा सकें तथा राष्ट्रीय - अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्वयं की पहचान भी बना सकें.

'परम्परा' किसे कहते हैं?

© Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

'परम्परा' संस्कृत का विशेषण शब्द है, जिसका अर्थ है - "परंपिपर्ति इति" अर्थात् एक के बाद दूसरा, पूर्वानुपर, उत्तरोत्तर, अविच्छिन्न शृंखला, नियमित सिलसिला, आनुपूर्व्य आदि. "परम् उपपद पूर्वक पृ-धातु से अच् प्रत्यय करने पर बना=परम्पर, फिर स्त्रीलिंग की विवक्षा मेंआ (टाप्) प्रत्यय करने पर 'परम्परा' शब्द बनता है.'मानक शब्दकोष' में लिखा है- "१.वह व्यवहार जिसमें पुत्र पिता की, वंशज पूर्वजों की और नई पीढ़ीवाले पुरानी पीढ़ीवालों की देखा-देखी उनके रीति-रिवाजों का अनुकरण करते हैं. २.वह रीति-रिवाज जो बड़ों, पूर्वजों या पुरानी पीढ़ीवालों की देखा-देखी किया जाय. ३.नियम या विधान से भिन्न अथवा अनुल्लिखित वह कार्य जो बहुत दिनों से एक ही रूप में होता चला आ रहा हो और इसीलिए सर्व-मान्य हो. (ट्रैडिशन) ४.संतति. ५.हिंसा." (मानक हिन्दी शब्दकोष, पृष्ठ ३९६)

व्यावहारिक रूप में देखें तो परम्परा का निर्वाह होते-होते उनमें दोष आते जाते हैं. स्वच्छ वस्त्र जैसे धीरे-धीरे मैला होता जाता है, यद्यपि हम वस्त्र को यथासमय धोते रहते हैं; फिर भी धीरे-धीरे मैल जमता ही जाता है. वैसे ही प्रायः परम्पराएँ भी दूषित होती जाती हैं. उनमें आने वाले विकारों को कोई चाहकर भी रोक नहीं सकता है. लम्बे समय के बाद जब शास्त्र और परम्परा का मिलान करते हैं, तब पता चलता है कि यह क्या हो गया? किन्तु; परम्परा या रीति-रिवाज को बाद में बदलना बहुत मुश्किल काम होता है. यद्यपि कुछ परम्पराओं में विकासावलम्बी परिवर्तन भी होते हैं, लेकिन यह संयोग मात्र ही होता है. फिर भी यह तो तय है कि विकृत रिवाजों को बदलना आसान नहीं है. आज हम कुछ ऐसी ही परम्पराओं पर विचार करेंगे, जिनमें बहुत बदलाव की आवश्यकता है या उन्हें छोड़ने की आवश्यकता है. परम्पराओं के अतिरिक्त कुछ सामयिक बदलाव भी आते हैं, जो तड़क-भड़क और दिखावे से तरबतर होते हैं. परम्पराओं की अपेक्षा इनसे अधिक हानि होती है. इन सबके उद्देश की बात करें तो दहेज़, टीका, मृत्यु-भोज, ओढ़ावनी, अशिक्षा, विवाह में अनावश्यक दिखावे से भरा खर्च, प्लास्टिक के डिस्पोजल का बढ़ता उपयोग आदि का उल्लेख किया जा सकता है.

विवाह जैसी रश्म में सब आनन्द के साथ लजीज भोजन, सुन्दर नृत्य व सबसे मिलन का सुख भोगते हैं. यह होना भी चाहिए, किन्तु थाली मेंइतना अधिक भर लेते हैं कि वह उससे खाया ही नहीं जा सकता और फिर पर्याप्त जूठन छोड़ देते हैं - यह बहुत गलत है. यह धार्मिक दृष्टि से अन्न का अनादर तो है ही, अन्न की बर्बादी के साथ जिन्हें एक समय का भी भोजन नहीं मिलता, उनके अधिकार का हनन होता है. हमें अन्न के महत्त्व को समझना चाहिए. प्लास्टिक डिस्पोजल को तो आँख बंद करके छोड़ देना चाहिए. पर्यावरण-प्रदूषण के साथ यह प्लास्टिक कैंसर का जनक भी है. फ़िर हमारी क्या मजबूरी है कि हम इसका उपयोग करते ही जाते हैं? पहले पीतल, स्टील या काँच के बर्तनों का उपयोग होता था और कैंसर जैसे रोगों का प्रकोप भी नहीं था. अतःलगता है कि अब हमें उस ओर पुनः लौटना चाहिए.

दहेज़ एक प्राचीन प्रथा है. जिसे राजस्थानी में दायजा (दायजो) कहा जाता है. यह संस्कृत के दाय का ही रूपान्तरित शब्द है. जिसका अर्थ होता है - उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति. प्राचीन काल में पिता अपनी पुत्री को भी उसकी सम्पत्ति का अंश देकर विदाई देता था. उसे दाय कहते थे. वह उसका ही धन होता था. अब तो दहेज़ को सास-ससुर अपना धन मानते हैं और उसके न मिलने पर बहू को बहुत तंग किया जाता है. कभी-कभी तो कुछ धनलोभी पापी दहेज़ न मिलने पर बहू को जलाकर मार ही देते हैं. इतना बड़ा अत्याचार पापियों का ही काम होता है. ऐसा कतई नहीं होना चाहिए. समाज में इस प्रकार की भयावह स्थितियाँ नहीं होनी चाहिए. बच्ची की समझदारी को ही माँगना चाहिए. आजकल दहेज़ देने की होड़ लगी है. "फलाने ने इतना दहेज़ दिया है" तो हमें उससे इक्कीस देना है. इस सोचवाली कार्यशैली परिवार के विकास में ग्रहण लगने के समान है. दहेज़ उतना ही दीजिए, जितनी हमारी सामर्थ्य है. वर्ना कर्जदार बन जाओगे और अपनी गृहस्थी को अस्त-व्यस्त कर डालोगे. "तेते पाँव पसारिए जेती लाम्बी सोर"-यह कहावत ऐसे ही नहीं लिखी गई है. इसमें जीवन की अनुभूतियाँ समाविष्ट हैं. इसे समझ कर जीवन-शैली में ढालने

का प्रयास करें, तो हमारा जीवन व परिवार ख़ुशीसे लबालब रहेंगे.दहेज़ न दें, दाय दें; ताकि बेटी को उसका हिस्सा मिल सके और माँ-बाप को सन्तोष हो सके कि अपनी बेटी का हिस्सा उसे दे दिया गया है.

टीका यानी तिलक. यह रश्म भी जिस रूप को प्राप्त हो गई है, वह भी चिन्तनीय है. वर-वधू की सहमति से दोनों का रिश्ता पक्का करने के लिए तिलक किया जाता है. यह तिलक उनके भविष्य की उन्नति का परिचायक होता है. यश और प्रेम की पराकाष्ठा की मंगल कामना का प्रतीक होता है. इस अवसर पर दिया जाने वाला नारियल और चाँदी का सिक्का भी शुभ और समृद्धि के सूचक माने जाते हैं.तिलक के बिना कोई कार्य सफल नहीं होता, ऐसा हमारे शास्त्रों में लिखा है. इसीलिए यह रिवाज इतना अधिक प्रचलित है. लेकिन आज तो इस अवसर पर भी पाखण्ड का बोलबाला हो गया है. सबके मुँह से एक ही आवाज़ सुनी जाती है - "टीके में कितने दिए"? यह हमारी तुच्छ मानसिकता के प्रतीक शब्द हैं. पूछना तो यह चाहिए कि आपस में वैचारिक समता कितनी है? साथ-साथ चलने की क्षमता कितनी है? कार्यकौशल कितना है? योजक-शक्ति कितनी है? तिलक की रश्म के साथ यह सब तय हो जाता है और इसके बाद कुछ समय उन्हें समझने के लिए मिलता है. जिससे स्वास्थ्य, शिक्षा और आचरण आदि का बोध हो जाता है. हमें तिलक के अवसर पर केवल एक नारियल, एक चाँदी का सिक्का तथा दोनों बच्चों के वस्त्र - इतना शकुन करना चाहिए. बाकी सबका तिलक करके उनका उचित सम्मान करना चाहिए. सम्मान और प्रेम ही सबसे बड़ा धन है. ये दोनों जहाँ हैं, वहाँ सुख-समृद्धि स्वतः ही मिल जाती है.

'मृत्युभोज' का स्वरूप सर्वाधिक विकृत हुआ है. कुल में किसी के निधन पर ग्यारहवें और बारहवें दिन भोजन कराने को ही मृत्युभोज कहा जाता है. वस्तुतः उस दिन सुयोग्य ब्राह्मणों एवं अपनी ज्ञाति के लोगों को भोजन कराने का विधान है, किन्तु; आज तो इस दिन पूरे समाज या पूरे गाँव को भोजन कराना रिवाज ही नहीं फ़ैशन सा बन गया है,यह ठीक नहीं है. इसे कम से कम करना चाहिए.इससे वित्तीय असमानता के कारण सामान्य या निर्धन परिवारों को बहुत कष्ट झेलना पड़ता है. वे ऐसा करने के लिए लालायित भी रहते हैं और कई बार उनको ऐसा करने के लिए उकसाया भी जाता है. फलतः कर्जदार हो जाते हैं. हमें शास्त्रीय विधान के अनुसार बहुत संक्षेप में ही यह रश्म करनी चाहिए. सामाजिक रूप से भी संस्थाएँ इस पर उचित निर्णय लेकर नियंत्रण कर सकती हैं. अधिक से अधिक मिठाइयाँ बनाने की अपेक्षा कम से कम मिठाइयाँ बनानी चाहिए. ऐसा करने के लिए नियम बनाया जाना चाहिए. वणिक् आदि काफ़ी समाजों में आजकल मृत्युभोज में कम से कम मिठाइयाँ बनाने का निर्णय ले रखा है. हमें भी इस पर ध्यान देना चाहिए. जब इतने समृद्ध समाज के लोग ऐसा निर्णय ले रहे हैं तो निश्चय से समाज समाजहित की बात उसमें सन्निहित है.

मृत्युभोज के साथ ही जुड़ी हुई एक और रश्म है, जो बहुत खराब है. इसे 'ओढ़ावनी' के नाम से जाना जाता है. इसकी कोई आवश्यकता नहीं है. कई सगे-सम्बन्धी तो इतने ख़राब होते हैं कि अपने परिवार के साथ दूर-दूर के रिश्तेदारों के लिए भी वस्त्रादि माँग लेते हैं. जिस सामाजिक के माता-पिता आदि में से किसी का निधन हुआ है, वह मानव तो वैसे ही बहुत दु:खी होता है. उसे सान्त्वना या ढाढ़स की जगह और ये लोग और अधिक दुःखी कर देते हैं. आर्थिक स्थिति कमज़ोर हो तो यह ओढ़ावनी"कोढ़ में खुजली के समान" हो जाती है. इस रश्म को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहिए. जो भद्र हुए हैं, केवल उनके सिर को ढक देना चाहिए.

अब हम विवाह के अवसर की बात कर लेते हैं. विवाह नई सृष्टि के लिए दो व्यक्तियों के आजीवन साथ निभाने का नाम है या कदम से कदम मिलाकर अपूर्ण जीवन को पूर्ण करने का नाम है. कुछ कमियाँ पुरुष में होती हैं, तो थोड़ी स्त्री में. लेकिन जब मिलते हैं तो वे कमियाँ दूर इसलिए हो जाती हैं कि वे कमियाँ दूसरे साथी में नहीं हैं. अतः यह बहुत बड़ी ख़ुशी का अवसर होता है. इस ख़ुशी में हम लोग इतना अधिक अनावश्यक खर्च कर देते हैं कि बाद में उस कर्ज को चुकाते-चुकाते थक जाते हैं. ख़ुशी पर खर्च करना चाहिए और करते भी हैं, किन्तु उचित ही होना चाहिए. इस अवसर पर हम आजकल प्लास्टिक के बने डिस्पोजल

पदार्थों का भी बहुत अधिक उपयोग करते हैं. पर्यावरण प्रदूषण का यह भी एक बहुत बड़ा कारण है. हम जब दूसरे दिन विवाह-स्थल का अवलोकन करते हैं, तब पता चलता है कि कितना कचरा हो गया है. वह भी पहले शरीर को हानि पहुँचाता है और बाद में धरती की उर्वरा शक्ति को नष्ट करता है. स्वयं नष्ट भी नहीं होता है. उसे हम कहीं डालते-डालते प्रदूषण के पहाड़ बना देते हैं. समय आ गया है कि अबहमें इन प्लास्टिक से पदार्थों का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए. पुनः स्टील आदि के स्थायी बर्तनों का ही उपयोग पर ही बल देना चाहिए.चकाचौंध हेतु अनावश्यक लाइटिंग का उपयोग भी नहीं होना चाहिए. इसमें पैसा तो बर्बाद होता ही है, बिजली का अनावश्यकखर्च होता है. उसका उत्पादन वैसे ही कम हो रहा है, अतः उसे हमें बचाना चाहिए.

एक-दो बहुत गम्भीर मुद्दे हैं, जिन पर समाज को गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिए. अन्तरजातीय विवाह और विधवा-विवाह ऐसे ही मुद्दे हैं. इन दोनों मुद्दों पर बहुत गहन और गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है. हमारे शास्त्रों के अनुसार स्त्री की कोई जाति नहीं होती. वह तो धरती की तरह है, जिस पर सब प्रकार के बीजों का वपन होता है. वह किसी भी बीज को अंकुरित होने से नहीं रोकती. लेकिन उत्तम किश्म के बीजों का वपन करेंगे तो उत्तम फल प्राप्त होगा और निम्न किश्म के बीज डालेंगे तो घटिया फल ही मिलेंगे. लेकिन हमें उर्वरा धरती और बंजर भूमि का भी ध्यान अवश्य रखना चाहिए.उर्वरा धरती के समान श्रेष्ठ कन्या के साथ विवाह किया जाएगा तो सन्तान बहुत बुद्धिमान् और अत्यधिक उपयोगी होगी. यह बात विज्ञान-प्रमाणित है कि दूर के रिश्तों वाली अथवा अन्य समाज की कन्याओं से प्राप्त सन्तति हर क्षेत्र में श्रेष्ठ होती है. महर्षि वेदव्यास ने तो स्वयं यह व्यवस्था हमें प्रदान की है. वे ही क्यों? उनके पिता महर्षि पराशर ने भी तो उन्हें अन्य वर्ण की कन्या से उत्पन्न किया था ! अतः इस पर ठीक-ठीक चिन्तन होना चाहिए.

विधवा-विवाह की स्वीकृति पर भी समाज को चिन्तन करना चाहिए. विशेषतः युवावस्था में ही जो बच्चियाँ विधवा हो जाती हैं, यह उनके लिए किसी अभिशाप से कम नहीं है. उनकी स्वीकृतिपूर्वक विवाह की व्यवस्था होनी चाहिए. प्राचीन काल में यह व्यवस्था रही है और आधुनिक समाज में कुछ ब्राह्मण आदि समाजों नेविधवा-विवाह को स्वीकृति दे दी है, तो हमें भी इसे अब स्वीकार कर लेना चाहिए. ऐसे ज्वलन्त और विवादित मुद्दों का समाधान बहुत आवश्यक है. हमारे युवा इनके कारण कुण्ठित होते जा रहे हैं. दो-तीन दिवसीय उपनिषत् का आयोजन करके उसमें इन विषयों पर तलस्पर्शी चिन्तन होना चाहिए. इनसे सम्बद्ध पूर्वापर व्यवस्थाओं कीसमीक्षा भी होनी चाहिए. जिससे आने वाले समय में हम विश्व की हाईटेक जीवनशैली में कदम से कदम मिलाकर अपना योगदान दे सकें.

____****____****____